



THE TIMES OF INDIA

Date: 12-06-21

Mixed Purse

Why women advance in higher ed, retreat in jobs

TOI Editorials

Girls have regularly outshone boys in board exams. And a tectonic shift may be underway in India's higher education as well – women's gross enrolment ratio is now higher than men's. This is across BA, BSc, MPhil and MBBS programmes. Two factors may be at work here. Average incomes have risen, even though the rate of increase has probably slowed recently. And the transformative effect education can have on young women's lives has become more and more apparent. The 2017-18 Economic Survey had highlighted that several gender indicators are much more responsive to wealth in India, as compared to other countries. But, and here's the bad news, there are also stubborn outliers – women's employment is a notable one.

Indian women's labour force participation rate is lower than Pakistan's and Afghanistan's, according to a 2020 World Bank report. The Survey had noted that the trend started last decade: 36% of women were employed in 2005-06, 24% in 2015-16. The income effect – higher average family incomes leading to withdrawal of women from labour force – is a reason. Demonetisation and the pandemic have taken added tolls. The first Covid wave hit women's jobs disproportionately. The lockdown experience of working urban women was made more painful by persisting gender segregation of household work. The second wave seems to have hit rural women's employment.

Social norms that dictate women must do most of the unpaid housework need to be challenged. If women get educated but still have to play family roles scripted a millennia ago, the glass of India's progress will always be half empty.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 12-06-21

MSP Hike Doesn't Signal Agri Reform

ET Editorials



The government has raised the minimum support prices (MSP) of 17 kharif crops: paddy, coarse cereals, maize, cotton and assorted pulses. Paddy prices are up by ₹53 per quintal, to ensure that farmers get 50% over and above the estimated all-India weighted average cost of cultivation. Two varieties of coarse grain and two kinds of pulses have been given a higher rate of return over the cost of production, in an attempt at crop

diversification. Considering that the government has, in its stocks, over 100 million tonnes of wheat and rice, even after months of supplying some free food to 80 crore people, in light of economic reverses created by the pandemic, the need was to slash or, at the least, freeze the MSP for rice. The country no longer needs to produce more cereals.

But such economic sense conflicts with the compulsions of politics, with farmers already agitating against attempts at rationalisation of the procurement policy. The attempt at crop diversification moves in the right direction. But crop diversification will not be achieved solely by announcing higher support prices. Support prices are meaningless without active procurement at the support price. While the government announces support prices for around two dozen crops, active procurement is limited to a handful of crops. Even for paddy and wheat, procurement is concentrated in some regions, with Bihar and West Bengal practically outside the ambit of official procurement. Nor is procurement on the basis of a higher support price sufficient to achieve crop diversification.

There must be sustained research in crop development, fieldlevel extension to deliver technical advice and education on agronomic prospects to farmers, choice and encouragement of farmers to take the lead.



Date: 12-06-21

क्या एमएसपी में वृद्धि से किसानों की होसला अफजाई हुई है ?

संपादकीय

किसान ने कोरोना-उत्तर काल में रिकॉर्ड अनाज पैदा कर जीडीपी की नकारात्मक विकास दर को अपनी सकारात्मक दर से कम करने में मदद की, उसे एक साल बाद निर्यात किए जाने वाले मक्के की एमएसपी में मात्र 20 रुपए (1.1%) या धान में 72 रुपए (4% से कम) वृद्धि मिले तो वह सरकार के प्रति सहज ही नाराज होगा। अरहर व उड़द की एमएसपी में भी मात्र 300 रु. (5%), सूरजमुखी बीज पर 130 रु. (2%) की बढ़त उंट के मुंह में जीरा जैसा है। इस पर जब देश के कृषि मंत्री कहें कि दलहन व तिलहन पर ज्यादा एमएसपी देने के पीछे मंशा है किसानों को परंपरागत धान/गेहूं की खेती से हटाकर फसल-वैविध्य की ओर उन्मुख करना, तो यह किसानों के घाव पर नमक छिड़कने जैसा है। दलहन व

तिलहन फसलें धान व गेहूं की तरह मजबूत फसलें नहीं हैं और मौसम की हल्की थपकी भी उत्पादन पर असर डालती है। फिर भी अगर किसानों ने कोरोना काल में 25 मिलियन टन दलहन पैदा किया तो उनकी हौसला अफ़जाई के लिए एमएसपी दर बढ़ानी चाहिए थी। अगर दलहन के दाम उपभोक्ताओं के लिए अक्टूबर-जनवरी में डेढ़ गुना बढ़े तो लाभ किसानों को नहीं आढ़तियों को मिला। बेशक दलहन व तिलहन का उत्पादन देश में बढ़े तो फसल-बैविध्य की जरूरत पूरी होगी और किसानों को अच्छा दाम मिलेगा, लेकिन इसके लिए सरकार को मजबूत बीमा-नीति बनानी होगी और एमएसपी बढ़ाने के साथ खरीद की गारंटी लेनी होगी। फसल लागत तय करने का फॉर्मूला भी सही नहीं है क्योंकि इसमें जमीन का किराया (या उसकी कीमत पर ब्याज) शामिल नहीं है जो उद्योगों के उत्पाद की कीमत जोड़ने में किया जाता है।

Date:12-06-21

कोरोना के बाद बच्चों से जुड़े बड़े खतरे आते दिख रहे हैं

कैलाश सत्यार्थी, (नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित बाल अधिकार कार्यकर्ता)



कोविड-19 महामारी से उपजे संकट के बीच आज अंतरराष्ट्रीय बाल श्रम विरोधी दिवस मनाया जा रहा है। दो दिन पहले अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन यानी आईएलओ और यूनिसेफ ने बाल मजदूरी की स्थिति से संबंधित रिपोर्ट जारी की है, जो चिंताजनक है। पिछले 20 सालों में पहली बार बाल मजदूरों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है। चार साल पहले करीब 15 करोड़ बच्चे बाल मजदूरी करते थे। अब बढ़कर 16 करोड़ हो गए हैं। अफसोस तो यह है कि यह आंकड़े महामारी शुरू होने से पहले

के हैं। जबकि महामारी से उपजे आर्थिक संकट, बेरोजगारी, पलायन, स्कूल बंदी आदि से बाल श्रम, वेश्यावृत्ति, बाल विवाह और बच्चों की ट्रैफिकिंग में भारी इजाफा होगा।

कोविड-19 का सबसे ज्यादा दुष्प्रभाव उन गरीब व वंचित बच्चों पर ही पड़ने वाला है, जिनके माता-पिता बेरोजगारी, गरीबी या मृत्यु के शिकार हुए हैं। करोड़ों बच्चे कक्षाओं में वापिस न लौटकर बाल मजदूरों की जमात में शामिल होने के लिए अभिशप्त होंगे। मैंने अपने चार-पांच दशकों के संघर्ष में बच्चों के भविष्य पर इतनी गंभीर आपदा कभी नहीं देखी। यदि पूरा विश्व समुदाय बच्चों का बचपन बचाने के लिए एकजुट होकर गहरी संवेदनशीलता के साथ कठोर कदम नहीं उठाता, तो हम एक पूरी पीढ़ी के भविष्य की बर्बादी के गुनहगार होंगे।

इस साल को संयुक्त राष्ट्र संघ ने बाल श्रम उन्मूलन वर्ष घोषित किया है। सतत विकास लक्ष्यों में बाल मजदूरी, गुलामी व ट्रैफिकिंग जैसे लक्ष्य 2025 तक हासिल करना है। यदि सरकारें व समाज मुस्तैद होकर नए संकल्प और उर्जा के साथ इस बुराई को खत्म करने के उपाय नहीं करते तो सतत विकास का यह लक्ष्य मजाक बन कर रह जाएगा।

दुर्भाग्य से बच्चों को शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा देने व गरीबी खत्म करने की कोशिशों में समग्रता के साथ हल करने के पर्याप्त प्रयास नहीं हुए। याद रखें कि जो बच्चे गरीबी में पैदा होते और जीते हैं, उन्हीं में ज्यादातर बाल मजदूर हैं तथा शिक्षा व स्वास्थ्य से वंचित हैं। यह पूरा दुष्चक्र है। बाल मजदूर हमेशा के लिए इस स्थिति में बने रहते हैं क्योंकि खेत-खलिहानों, कारखानों, खदानों, ईट-भट्ठों आदि में मजदूरी करने के लिए मजबूर बच्चे अस्वस्थ, निर्धन और अनपढ़ बने रह जाते हैं। जरूरत है कि स्थानीय इकाइयों से लेकर राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ऐसे कार्यक्रम चलें, जिनमें इन आयामों का समन्वय हो।

असलियत यह है कि बच्चों की गरीबी, मजदूरी, अशिक्षा और बीमारियां हमारी राजनैतिक व आर्थिक प्राथमिकताओं में नहीं हैं। भारत को ही लीजिए। देश की करीब 40% आबादी 18 साल से कम उम्र के बच्चों और किशोरों की है। लेकिन उनकी पढ़ाई-लिखाई, सुरक्षा व स्वास्थ्य पर कुल बजट का करीब 3-4% पैसा ही खर्च होता है। यही हाल तकरीबन सभी विकासशील देशों का है। जरूरी है कि आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए बच्चों के मद में बजट बढ़ाया जाए। विदेशी अनुदान में भी बच्चों के विकास व कल्याण के लिए उचित धनराशि सुनिश्चित की जाए। कानूनों का मुस्तैदी से पालन कराने के साथ-साथ सामाजिक और निजी क्षेत्रों की भागीदारी को भी बढ़ावा मिलना चाहिए।

आईएलओ व यूनिसेफ की बाल श्रम पर संयुक्त रिपोर्ट जारी होने के अवसर पर मैं भी आमंत्रित था। जहां मैंने अमीर देशों से अपील की कि वे एक वैश्विक सामाजिक सुरक्षा कोष गठित करें। इसी तर्ज पर विकासशील देश सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रम मजबूत करें। यूरोपियन यूनियन और आईएलओ के उच्च स्तरीय सम्मेलन में भी मैंने इसका आह्वान किया है। आज बच्चों के शोषण को एक वैश्विक चुनौती के रूप में लेने की सबसे बड़ी जरूरत है।

राष्ट्रीय
सहारा

Date:12-06-21

आपदाएं गंभीर, पीड़ाकारी

भारत डोगरा

यही उत्तराखंड में सामान्यतः बाढ़ और भूस्खलन की आपदा का सामना वर्षा ऋतु के दिनों में ही करना पड़ता है, पर इस बार फरवरी के महीने में ही यहां ऐसी भीषण बाढ़ की आपदा नजर आई कि राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा का विषय बनी। अप्रैल में फिर चमोली जिले में बाढ़ का विनाश देखा गया। इस राज्य में वनों में लगने वाली आग की आपदा प्रायः गर्मी में ही गंभीर स्थिति में आरंभ होती है पर इस वर्ष सर्द के दिनों में ही जंगल में आग की घटनाओं में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इस तरह वर्षा आने से पहले ही उत्तराखंड ने बाढ़ की तबाही झेली और गर्मी आने से पहले ही जंगल की आग की तबाही भी झेली। आग भी इतनी गंभीर थी कि कुछ शहरों तक उसकी लपटें पहुंचने लगी थीं।

ऐसा नहीं है कि हिमालय के केवल इस राज्य को ऐसा संकट झेलना पड़ा हो। हिमाचल प्रदेश में सर्दी इतनी सूखी रही कि गर्मी के आगमन से पहले ही पेयजल की गंभीर समस्या अनेक ग्रामीण और शहरी आबादियों की महसूस होने लगी थी, जल-स्रोत सूख रहे थे और पेयजल स्कीमों की क्षमता बहुत कम हो रही थी। राज्य सरकार सूखे से जूझने की तैयारी कर रही थी। उसी समय अप्रैल में अचानक कुछ दिनों की वर्षा का भीषण वेग आया जिसने सिमटते जल-स्रोतों को तो भर दिया पर सेब और अन्य पलों के बगीचों तथा सब्जियों और अन्य फसलों की खेती की बहुत क्षति की। कुछ ऐसी ही क्षति मई के प्रथम सप्ताह में भी हुई। इस तरह चाहे यहां जनवरी से अप्रैल तक कुल वर्षा सामान्य कुल वर्षा के आसपास रही पर इस वर्षा का बंटवारा इस तरह से असामान्य रहा कि पहले सूखे की क्षति झेली और फिर अधिक वर्षा और ओलों से बगीचों और खेती की क्षति झेलनी पड़ी।

प्रायः यह पहले से कहा जाता रहा है कि जलवायु बदलाव के दौर में मौसम और विशेषकर वर्षा में ऐसी असामान्यताएं बढ़ जाएंगी पर दोष केवल जलवायु बदलाव का भी नहीं है। हिमालय क्षेत्र के विभिन्न राज्यों में अंधाधुंध बांध निर्माण और अन्य निर्माण, खनन पेड़ों के कटान, अनुचित वन-नीतियां और प्रबंधन ने भी बाढ़, भू-स्खलन, वन-अग्नि, पेयजल संकट आदि आपदाओं को बहुत बढ़ा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अनेक गांव कभी बाढ़ तो कभी भू-स्खलन तो कभी वन-आग के संकट की आशंका से त्रस्त रहने लगे हैं। तिस पर कोविड-19 के दौर में तो देश-दुनिया के स्तर पर तो वैसे ही सब की कठिनाइयां बढ़ गई हैं। हिमालय क्षेत्र के लिए इस संकट की विशेष मार यह भी पड़ी है कि यहां के बहुत से लोगों की आजीविका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तौर पर पर्यटन और तीर्थ यात्राओं से भी जुड़ी है। जब कोविड के दौर में यह सब रुक जाता है, वह भी पीक सीजन में, तो फिर निश्चय ही बहुत से लोगों के लिए आर्थिक संकट गंभीर हो जाता है। पर्वतीय राज्यों के लिए केंद्र सरकार की विशेष आर्थिक सहायता का महत्वपूर्ण योगदान रहा है पर अब कुछ कारणों से यह योगदान भी पहले से कम होने के दौर में है। जहां तक हो सके अभी फिलहाल यह विशेष आर्थिक सहायता बनाई रखनी चाहिए क्योंकि हिमालय क्षेत्र के अधिकांश राज्य अभी भी कठिन दौर में हैं।

केंद्र सरकार को समझना चाहिए कि हिमालय क्षेत्र के उचित विकास का बहुत व्यापक राष्ट्रीय महत्व है। यहां एक बड़ा सीमा-क्षेत्र है। इन पर्वतों पर जो होता है, उसका सीधा असर नीचे के मैदानी इलाके की सघन आबादियों पर भी पड़ता है। हिमालय में वनों और नदियों की ठीक स्थिति रहेगी, तो मैदानी इलाकों को विकास के अनुकूल स्थितियां मिलेंगी। पहाड़ों पर वनों और नदियों के लिए संकट उत्पन्न होगा तो नीचे के सघन मैदानी क्षेत्रों में भी बाढ़ और सूखे का संकट अधिक विकट होगा। यह स्थिति हमेशा रही है पर जलवायु बदलाव के दिनों में इसका महत्व और भी बढ़ गया है। विभिन्न कारणों से हिमालय क्षेत्र के राज्यों के लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधन जुटाना सरल कार्य नहीं है। अतः यहां के महत्व को देखते हुए केंद्र सरकार को इन राज्यों की समुचित सहायता करनी चाहिए, वह भी ऐसे विकास के लिए जिसमें पर्यावरण संरक्षण को समुचित महत्व दिया जाए।

वैसे हिमालय के कुछ राज्यों ने हाल के समय में सार्थक प्रयास भी किए हैं। सिक्किम को पूर्णतः आर्गेनिक खेती का क्षेत्र घोषित किया गया है। हिमाचल प्रदेश ने प्राकृतिक खेती और स्थानीय बीजों के संरक्षण, लुप्त हो रही पौष्टिक फसलों को बचाने के कुछ सार्थक प्रयास किए हैं। उत्तराखंड में भी आर्गेनिक खेती बढ़ाने के कुछ प्रयास हुए हैं पर इन सभी प्रयासों की अभी कुछ सीमाएं भी हैं। दूसरी ओर पर्यावरण संरक्षण की उपेक्षा करते कुछ अनुचित अंधाधुंध निर्माण कार्यों: खनन को बढ़ाने से पर्यावरण की बहुत क्षति हुई है। केंद्र सरकार और हिमालय के राज्यों की सरकारों को मिलकर हिमालय क्षेत्र के लिए एक ऐसी योजना बनानी चाहिए जिसमें पर्यावरण रक्षा और आजीविका रक्षा विशेषकर टिकाऊ आजीविका या सस्टेनेबल लाइवलीहुड की रक्षा का मिलन हो। इसको केंद्र में रखकर अन्य निर्णय लिए जाएं। आपदाओं से बचाव को भी

उच्च प्राथमिकता दी जाए। इस तरह के विकास की योजना तैयार कर केंद्र सरकार को इसके लिए उचित सहायता देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, हिमालय के ग्रामीण समुदायों में समाज-सुधार के कार्यों को आगे बढ़ाने में और नशा-विरोध जैसे कार्यों के लिए महिलाओं की स्थिति मजबूत करने पर अधिक ध्यान देना चाहिए। हिमालय क्षेत्र के दलित परिवार प्रायः उपेक्षित रहे हैं। उनके विकास और उनके विशेष कौशल, लोक कलाओं के विकास को भी महत्त्व मिलना चाहिए।

हिमालय क्षेत्र की कुछ विवादास्पद परियोजनाओं पर पुनर्विचार की मांग कई बार उठी है और कई बार न्यायालयों और विशेषज्ञ समितियों ने भी इस ओर ध्यान दिलाया है। सरकारों को चाहिए कि इस ओर यान दें। विशेषकर बहुत जरूरी है कि विभिन्न बांध परियोजनाओं के समग्र असर को भी देखा जाए। हिमालय में ऐसी बहुत सी परियोजनाएं बनती रही हैं पर इनका समग्र आकलन होना अभी शेष है। बहुत बड़े स्तर पर नदियों में बदलाव हो रहे हैं, बांध जनित भूकंपीयता जैसे मसले हैं और इनके समग्र असर को समझना राष्ट्रीय हित में जरूरी हैं।



Date:12-06-21

हम कानून से कब तक दूर भागेंगे

रोहिणी नीलेकणि, (चेयरपर्सन, अर्घ्यम)

देश की सर्वोच्च अदालत राजद्रोह कानून की फिर से व्याख्या करने जा रही है। यह खासा महत्वपूर्ण है कि औपनिवेशिक युग के जिस कानून को खुद ब्रिटेन ने अपने यहां निरस्त कर दिया, उसको अब तक भारत में किसी भी सरकार ने रद्द नहीं किया, उल्टे इनमें से प्रत्येक ने इसका इस्तेमाल ही किया। जबकि, राजद्रोह कानून देश के उन तमाम कानूनों का शीर्षस्थ सिरा है, जिस पर नए सामाजिक नजरिए से विश्लेषण की जरूरत है।

हममें से ज्यादातर लोग यही मानते हैं कि कानून का पालन करने वाले हम अच्छे नागरिक हैं। कानून सर्वोच्च सार्वजनिक और निजी भलाई को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं। हम उन सभी कानूनों के पालन का प्रयास करते हैं, जिनके बारे में हम जानते हैं। ऐसा करने से हम एक ऐसे समाज का हिस्सा बन जाते हैं, जो कानूनों द्वारा न्यायपूर्वक शासित होता है। हम जेल के जन-जीवन की नहीं सोचते, क्योंकि हम मानते हैं कि हम ऐसा कुछ करने की कल्पना भी नहीं कर सकते, जो हमें सलाखों के पीछे पहुंचा दे। और अगर गलती से हम फंस गए, तो निश्चय ही किसी दूसरे रास्ते से बच निकलेंगे! क्योंकि, जेल हमारे लिए नहीं, दूसरों के लिए हैं।

क्या इन सभी धारणाओं पर फिर से विचार करने का समय आ गया है?

सतही तौर पर देखें, तो हमारे कई कानूनों में अपराध के हिसाब से सजा या जेल का प्रावधान नहीं है। कई कानून तो लोक-व्यवस्था की जिम्मेदारी राष्ट्र और उसके तंत्र के बजाय नागरिकों और उनके व्यवहार पर डाल देते हैं। दुखद है, ऐसे

कई कानून बिना विधायी बहस के पारित हुए हैं। जैसे, क्या आपको पता है कि पालतू कुत्ते को यदि आप ठीक से नहीं घुमाते, तो आपको गिरफ्तार किया जा सकता है? इसमें अधिकतम तीन महीने की सजा मिल सकती है। क्या आपको जानकारी है कि प्रतिबंधित धागे से पतंग उड़ाने पर दो साल की सजा हो सकती है? बिना बीमा वाली गाड़ी चलाने पर भी आप तीन महीने के लिए जेल जा सकते हैं? फिर भी, अधिकांश भारतीय नागरिक कानून-निर्माण या आपराधिक न्याय के मसलों पर संजीदगी नहीं दिखाते।

दशकों, यहां तक कि सदियों से कायम कठोर और बेरहम कानूनों के अलावा कुछ नए नियम-कानून भी हैं, जो शासन को व्यापक अधिकार देते हैं। हां, सुखद यह है कि अभिव्यक्ति की आजादी और निजता के बहाने कुछ कानूनों पर गंभीर सार्वजनिक बहस हुई है। ऐसी ही एक जीत आईटी ऐक्ट की धारा 66ए को असांविधानिक करार देने से हमें मिली थी। हालांकि, अभिव्यक्ति पर चोट करते ऐसे कई अन्य कानून अब भी मौजूद हैं, लेकिन सोशल मीडिया के व्यापक इस्तेमाल के कारण लोगों को ये कानून संभवतः बहुत ज्यादा असरदाज होते नहीं महसूस होते।

एक अन्य ताजा उदाहरण देखिए। सरकार ने महामारी के समुचित प्रबंधन के लिए आपदा प्रबंधन अधिनियम 2005 लागू किया। लेकिन यदि इसे सख्ती से लागू किया जाता, तो इसके कुछ प्रावधान शायद लाखों लोगों को हवालात की सैर करा देते। जैसे, कोविड-19 से जुड़ी फर्जी खबरों को फैलाना। इसमें वाट्सएप मैसेज भी शामिल है, जो बाद में यदि गलत साबित हो जाए, तो आपको एक साल तक की जेल हो सकती है। इसी तरह, बिना किसी ठोस वजह से मास्क न पहनने पर भी एक साल तक की सजा तय है। जाहिर है, इनमें से कुछ कानूनों को लागू करना संभव नहीं है या फिर ये उन अधिकारियों की नजरों से दूर होंगे, जिनके पास गिरफ्तार करने का वैधानिक अधिकार है।

मगर यहां मसला इन कानूनों की मौजूदगी का है। और, परिस्थितियां कभी भी इस कदर बदल सकती हैं कि कोई व्यक्ति अनजाने में की गई गलती के लिए भी कहीं बड़ी मुश्किलें झेल सकता है। यहां मैंने जिन कानूनों का जिक्र किया है, उन सभी में गिरफ्तारी का प्रावधान है। तो क्या इस तरह के असंगत दंडनीय कानून बने रहने चाहिए? क्या पारित होने से पहले इनकी बेहतर ढंग से व्याख्या नहीं होनी चाहिए? क्या ये उस उद्देश्य और मंशा (अमूमन लोक-व्यवस्था और सुरक्षा) को पूरा करते हैं, जिनके लिए इनको बनाया जाता है?

हमारे पास इतने सुबूत नहीं हैं, जो साबित कर सकें कि कड़ी सजा से अपराध कम होते हैं। शोध तो यही बताते हैं कि कठोर कारावास का अंजाम आमतौर पर अपराधी द्वारा फिर से कहीं अधिक संगीन जुर्म किए जाने के रूप में सामने आता है। दूसरी ओर, संबल देने वाली न्याय-प्रणालियों के सुखद परिणाम दिख रहे हैं, जिनमें खुली जेल की व्यवस्था भी एक है। क्या हम इस तरह के सुबूतों का इस्तेमाल अपनी दंडात्मक न्याय-प्रणाली को कहीं अधिक न्यायपूर्ण, मानवीय और प्रभावशाली बनाने के लिए कर सकते हैं?

अब तक हम, यानी अभिजात वर्ग कानून-निर्माण और जेल सुधार पर गंभीर सार्वजनिक बहसों से बचते रहे हैं। चरणबद्ध लॉकडाउन ने हममें से कई लोगों को यह एहसास दिलाया होगा कि जेल की चारदीवारी में बंद होने वाले आखिर किस पीड़ा से गुजरते होंगे। लिहाजा, क्या हमारा समाज अब उन कानूनों पर गंभीर बहस कर सकता है, जिनसे किसी व्यक्ति को बहुत आसानी से अपराधी ठहरा दिया जाता है? और इसके बाद, हम कहीं अधिक व्यापक मसले पर चर्चा कर सकते हैं, जिनमें हद से अधिक भरी जेलों (जिनमें 70 फीसदी कैदी संभवतः निर्दोष विचाराधीन हैं) में मानवाधिकारों के उल्लंघन सहित आपराधिक न्याय का मसला महत्वपूर्ण है।

सर्वोच्च न्यायालय ने अब राष्ट्रद्रोह कानून को विमर्श के केंद्र में ला दिया है, जबकि महामारी ने आपदा प्रबंधन अधिनियम को। इसलिए यह वक्त सांसदों और विधायकों द्वारा गहन चर्चा करने का है कि कैसे एक बेहतर कानून एक बेहतर समाज का निर्माण सुनिश्चित कर सकता है। आईटी ऐक्ट की धारा 66ए को रद्द करने में इसी तरह के विमर्श ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

रही बात भारत के कुलीन वर्ग की, तो वह हर आम सार्वजनिक सेवा से खुद को अलग रखता है, फिर चाहे वह शिक्षा हो, स्वास्थ्य देखभाल, परिवहन या बिजली। प्रदूषण और महामारी ने यह कड़वी सच्चाई बताई है कि दूषित हवा और खतरनाक कीटाणुओं से हम खुद को अलग नहीं कर सकते। बुरे कानून भी अपवाद नहीं हैं। हम इनसे कतई नहीं भाग सकते।
